कैनवास पर फैलते रंग

लम्बी कविताएँ

बसन्त कुमार परिहार

आकार

आकार, अहमदाबाद

लम्बी कविताएँ मेरी, और मैं

कविता पहले कविता है, सार्थकता की कसौटी पर कसी-घुटी कलात्मक रचना। फॉर्म की चर्चा बाद मे है कि कोई काव्य रचना कविता (साधारण अर्थ मे), लम्बी कविता, गीत, गजल या परम्परागत खण्डकाव्य या महाकाव्य आदि है या क्या है ? सृजनात्मकता किसी भी रचना का प्रथम अभिगम माना जा सकता है। अत: लम्बी कविता या आम कविता के फार्म की चर्चा करते समय कविता का आकार विशेष महत्त्वपूर्ण नहीं है, यद्यपि यह भी उतना ही सत्य है कि जिस कविता को 'लम्बी कविता' की एक विशिष्ट विधा के रूप मे हम देखना चाहते है, वह आठ-दस पक्तियो की अथवा एक दो पृष्ठों की रचना नहीं हो सकती। एक लम्बे तनाव के सत्ते में घिरा कवि ही 'लम्बी कविता लिखने की दिशा में प्रवृत्त हो सकता है। अपने इस तनाव से रेचन द्वारा मुक्त होने के लिए अभिव्यक्ति के स्तर पर उसे तदनुकूल, अपेक्षाकृत एक बड़े कैनवास या फलक की आवश्यकता होती है। कवि के इस घनीभूत तनाव की काव्यात्मक अभिव्यक्ति के लिए इस तनाव बिन्दु के विकसित होने, फैलने, समृद्ध एव पुष्ट होने के लिए एक विशेष कद और कैनवास की आवश्यकता है। इस अर्थ मे 'लम्बी कविता' का लम्बा होना अभीष्ट एवं आवश्यक है। 'लम्बी कविता' कितनी लम्बी हो या होनी चाहिए इसकी कोई नपी-तुली सीमा संभव नहीं है। बाढ पर आई नदी कितने लम्बे चौडे विस्तार पर अपनी लीला अंकित करेगी इसका आधार तो उसके भीतर उठे उफान की तीव्रता (intensity) पर ही निर्भर करेगा उसी प्रकार 'लम्बी कविता' के फैलाव का आधार भी उसमें व्यक्त होते तनाव की प्रखरता एवं तीव्रता है। 'लम्बी कविता' का तनाव लोहार की भट्ठी में तपकर गर्म हुए उस लाल-सुर्ख लोहे के टुकडे के समान है जिसे वह हथौडे से पीट-पीटकर आकार देना चाहता है। उसके आर्न (envil) पर रखा लाल-सुर्ख लोहा जब पिटता है तो चारों ओर एक माहौल बनता है जिसमे हाँफती साँसो की चलती धौंकनी, भट्ठी मे जलती प्रचण्ड आग, उसमे तपकर लाल-सुर्ख होता लोहा लोहार का तमतमाया चेहरा, भारी हथौड़े, से प्रहार करते श्रमिक का पसीने से तरबतर शरीर, सन्नाटे को चीरता हुआ एक विशिष्ट प्रकार का शोर, इन सब का एक विशिष्ट महत्त्व है। आर्न पर रखे गर्म लोहे का आकार ग्रहण करना जितना महत्त्वपूर्ण है उतना ही उसके चारों ओर फैले परिदृश्य का भी। अपनी

इस समग्रता मे ही यह चित्र परिपूर्ण माना जा सकता है। तनाव की आँच को झेलते हुए तत्संबंधी परिवेशगत मनोदशाओं का तननने की एक जर्मी स्थिति म झेलते हुए परिदृश्य को सृजनात्मकता के ताने बाने में गूँथते हुए विस्तार ग्रहण करना 'लम्बी कविता' की कैफियत है। बंदूक म छूटी गोली की तरह सन्नाटा को चीरकर उभरती चीख तो उबरकर सन्नाटे में ही लीन हो जाती है किन्तु उसमें दहशत, खौफ, उत्पीड़न, सहानुभूति, आक्रोश आदि का एक माहौल सर्जित होता है। इस माहौल की सभी भावदशाओं को समेटे हुए उसकी सम्पूर्ण समग्र अभिव्यक्ति 'लम्बी कविता' का किरदार निभा सकती है।

क्या 'लम्बी कविता' मे कथानक या कथानक का आधार होना आवश्यक है? क्या 'लम्बी कविता' में संवाद या नाटकीयता से उसकी प्रभविष्णुता में किसी प्रकार की बढोती संभव है ? क्या एब्स्ट्रक्ट (बिना कथानक) वैचारिक सरोकारों वाली 'लम्बी कविता' लिखी जा सकती है ? क्या 'लम्बी कविता' के कोई प्रतिमान निर्धारित किए जा सकते हैं ? इस प्रकार के अनेक परन है जिनकी चर्चा गोष्ठियो पुस्तकों, साक्षात्कारों आदि में होती रहती है। चौतरफ़ा माहौल के विभिन्न घटकों ने एक जुट होकर जब जब मुझे पूरी तरह दबोचने और मिटियामेट कर देने की हद तक दबाने के पैंतरे रचे हैं तब तब अपने अस्तित्व की पहचान को बरक़रार रखने के लिए मुझे जूझना पड़ा है। उस त्रासद जद्दोजहद के आवेगपूर्ण तनाव की अभिव्यक्ति मुझसे जब जब बन पड़ी है तब तब मुझे लगा है कि मेरा कवि अपनी काव्य-भूमि के घेरे मे एक जंग लड़ रहा है - अपने आप से भी और अपने चौतरफ़ा माहौल से भी। उस प्राणलेवा दमघोट परिवेश के निर्माताओ के प्रति जितना आक्रोश उत्पन्न होता है उतना ही उस नपुंसकता के प्रति भी जो चुपचाप सब कुछ निर्विकार रूप में झेल लेती है, सह लेती है - निर्वचन, निष्प्राण! इस बहु आयामी शोषण की प्रतिक्रिया में अपने शाश्वत वजूद की खोज ही मेरे लिए अपनी लम्बी कविताओं का सबब है। अपने इस चिन्दी चिन्दी हुए अस्तित्व की शिनाख्त और उसे जीवित, संयत एवं अक्षुण्ण रखने की जद्दोजहद ही मेरी लम्बी कविताओं का अभीष्ट रहा है। किसी विशेष कथा-सूत्र की आवश्यकता मुझे अपनी लम्बी कविताओं के रचना विधान के लिए महसूस नहीं हुई। अपनी अभिव्यक्ति के लिए मैं बिम्बों, प्रतीकों एवं संदर्भो का प्रयोग किसी सुनिश्चित योजना के तहत नही करता। तनाव की उस संपृक्त स्थिति मे अभिव्यक्ति के अनुरूप मेरा मन जिसे स्वीकार करता है उसे कैनवास पर रंगो की भांति फैलाता चला जाता है और इन सब का एकीकृत प्रभाव उत्पन्न करके प्रत्येक पाठक को अपनी सोच और संस्कार के दायरे म रहकर

रहे हैं। इस दृष्टि से साहित्य-समीक्षको के लिए भी यह समय 'लम्बी कविता' विषयक विचार के विकास का ही समय माना जाना चाहिए। 'लम्बी कविता' के विकास के इस दौर में किसी की भी बात प्रमाण या फाईनल कहने का समय अभी नही आया है। लम्बे मनन, चिन्तन और दोहन के बाद ही यह स्थिति उत्पन्न होगी। मुक्त रूप से जन्मी और पनप रही 'लम्बी कविता' को अभी से सैद्धातिकता के बंधनों में जकड़ना उस मुक्त-भावना का गला घोटना होगा जो उसकी जन्मदात्री है। हॉ, समय समय पर विचार-विमर्श गोष्ठियॉ, चर्चाएँ आदि उसके पल्लवित और आकर्षक रूप मे विकसित होने मे सहायक एव आवश्यक है। 'लम्बी कविता' के स्वरूप और उसकी रक्षा का प्रश्न तो लम्बी कविताओ का मधुवन तैयार होने पर ही खडा होगा। जितनी लम्बी कविताएँ अब तक लिखी गई हैं उतने से यह मधुवन अभी अधूरा है।

मेरी लम्बी कविताएँ मेरे कविता सग्रहों में प्रकाशित, चर्चित एवं प्रशसित होती रही हैं। लम्बी कविता पर हुई गोष्ठियो मे समीक्षकों और वक्ताओं द्वारा उनका उल्लेख होता रहा है। कई गोष्ठियों में मैंने उन्हें देश-विदेश मे पढ़ा है और श्रोताओ की प्रशंसा पाई है। पत्र-पत्रिकाओं में भी छपी हैं। समीक्षको द्वारा समीक्षित भी होती रही हैं। इसे मैं अपना सौभाग्य ही मानता हूँ कि मेरी एक लम्बी कविता 'बीसवीं शताब्दी - उत्कृष्ट साहित्य - लम्बी कविताएँ' (अभिरुचि प्रकाशन, दिल्ली) शीर्षक संकलन में संकलित हुई। गुजरात मे निवास करते किसी भी अहिन्दी भाषी कवि के लिए निश्चय ही यह गौरव का विषय है।

'कैनवास पर फैलते रंग' में दीर्घकालिक तनाव को सहने की उपज के रूप में अपनी संवेदना की अभिव्यक्ति को बड़े कैनवास पर झेला गया है। मेरी रचना-मानसिकता के तन्तु जितनी मात्रा में उजागर एव समन्वित हो पाए हैं उतनी ही सफल मेरी ये लम्बी कविताएँ होंगी। मुझे विश्वास है कि मेरी पूर्व प्रकाशित लम्बी कविताओं की भाँति ये कविताएँ भी भावुक पाठकों एव सुधि समीक्षकों एवं विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करेंगी। मेरे मानस के कैनवास पर फैले ये रंग आपको रगने में कितने सफल हुए हैं अपनी इस जिज्ञासा के साथ लम्बी कविताओं का यह संग्रह नम्रतापूर्वक प्रस्तुत कर रहा हूँ।

बसन्त कुमार परिहार

1/1, पत्रकार कॉलोनी,
नारणपुरा,
अहमदाबाद-380013 (गुजरात)

अभिमत

महाकाव्यात्मक पीड़ा होती है लम्बी कविता

साहित्य और अन्य कलाएँ आज सम्मिलित रूप मे जन-पक्षीय सघर्ष मे हाथ बटा रहे है। सारी पूर्व हदो को लाँघकर मानवीय संवेदनाओं की रक्षा-सरक्षा मे एक-दूसरे की वास्तविक स्वायत्ता की गरिमा को परिपुष्ट करने मे लगे हैं ''कैनवास पर फैलते रग'' के आशयों को खोलें तो देश-समाज कैनवास के व्यापक मानवीय फलक की तरह सामने टग जाता है। यह हमारे विश्व का वर्तमान है, चेहरा है। यहाँ रग आकारो को रूप विन्यास और पहचान की सार्थकता नही दे रहे, बल्कि फैलकर विरूप कर रहे हैं। सुरुचियो, सवेदनाओ, सौदर्यस्वादो की सुवास को विरूपित, विकृत कर रहे है। अत· 'कैनवास पर फैलते रग' मे संग्रहित तीन लम्बी कविताएँ बदरंगी दुनिया को सामने लाती हैं। समकालीन हिन्दी कविता के सुपरिचित हस्ताक्षर बसन्त कुमार परिहार की ये तीन लम्बी कविताए है - 'आरभ होती है कविता', 'भ्रमों का जंगल', और 'टुंडे आदमी का बयान'।

समकालीन भारतीय जीवन-यथार्थ अपनी पुरातनता के कारण बड़ा पेचीदा है। जाति-पांति, छुआ-छूत, धर्म-सम्प्रदायगत विभेदों मे वर्तमान राजनीतिक नृशंसता, आधुनिक संसाधनो की लूट, बाज़ारूपन, वैज्ञानिक-औद्योगिक प्रभावोवश उत्पन्न सकट, सत्रास और जुड गए हैं। हिन्दी भाषा अपनी प्रकृतिगत विद्रोही चेतना के साथ कबीर और निराला को समकालीन कविता के अति निकट संसर्ग में ले आती है। यह अस्वाभाविक नहीं है। इधर भले ही विद्रोही तेवर कुछ शालीन और शमित हुआ है, किन्तु अधिकांश कवियो मे यह प्रौढता की अपेक्षा, मौकापरस्ती और स्वार्थपरता को सूंघ कर मदहोशी की वजह से घटित हुआ है। समाज में उठाईगीरी, डकैती, चोरी, वैध व्यापार की तरह बढ़े हैं तो साहित्य और कलाएँ भी इन से अछूते नहीं रहे। इसी त्वरा मे लम्बी कविताएँ लिखने का चलन भी काफ़ी बढ़ा है। जिन्हें ढग से छोटी कविता भी लिखनी नहीं आती, वे लम्बी कविताएँ भी लिख-छाप रहे हैं। अनुभूत विचार की अनुपस्थिति में शब्दो के कब्रिस्तान बढ़ रहे हैं। अन्यथा लम्बी कविता समकालीन चेतना की लम्बी, गहरी, व्यापक और सतत यातना-कथा है, महाकाव्यात्मक पीडा है।

बसन्त कुमार परिहार ने कथ्य के दबाव मे ये लम्बी कविताएँ रची हैं। कवि के अनुभव और तनाव, सृजन की ताब लिए हैं। चोट और वेदना की छबियाँ आत्मीय पीडा से उपजी है। इतिहास बाहर रह गए आदिवासी, आदिम लोगों की भांति बसन्त परिहार के अनुभूत शब्द अपनी जड़ें और पहचान मनुष्य के अस्तित्व में, उसकी ख़ुशबू में तलाशते हैं। मानवीय चीत्कार से निसृत बनवासी फूल-से खिले हैं। इन तीनो कविताओ मे देश का गये बावन वर्षो का सवेदनात्मक इतिहास सिमट आया है।

'आरंभ होती है कविता'-समकालीन कविता की जुझारू प्रकृति का पुन: मूल तत्व - क्रौंचवध की करुणा - से जोड़कर चलती है और इधर की कविता में यह आई वायवीयता को छाँटती है। बीसवीं शताब्दी की गुजरती 'बारूदी गंधसम चाल' और 'बूढ़े जर्जर-इतिहास की थरथराहट' के भयावह यथार्थ से सम्बद्ध करके परिदृश्य को सामने लाती है तथा भविष्य की दिशा की ओर भी इंगित करती है। लम्बी कविता, क्योंकि केवल लम्बाई के आयाम को ही उपलब्ध नहीं करती, बल्कि युगीन करुणा-वेदना और विचार के त्रै-आयामी सरोकार को भी सिद्ध करती है और भविष्य के लिए दिशा-निर्देश भी उसमें समाहित रहता है। हमारा वर्तमान जीवन यथार्थ और सत्य 'काले लबादे में लिपटा' है पर कवि की दृष्टि उस की वास्तविकता को उद्‌घाटित करती है। यहीं से आरंभ होती है- प्रस्तुत कविता की तनावमयी सृजनात्मकता -

> "दर असल
> कविता वहीं से आरंभ होती है
> जहाँ पर चीख़
> सन्नाटे में तबदील हो जाती है"

फिर

> "चीख़ सन्नाटे को तोडती है
> या सन्नाटा निगल जाता है
> मर्मभेदी चीखों को
> यह एक रहस्य है
> और इसी रहस्य की खोज का नाम है कविता।" (पृ 19)

यानी जहाँ कहीं भी त्रासद-संत्रस्त जीवन संदर्भ उभरता है, वहीं से कविता आरंभ होती और उन-उन संदर्भों, चेहरों, शक्तियों को उधेड़ती-अनावृत करती है। रहस्य को खोल कर दिखाती है और अपना होना सिद्ध करती है। अपनी स्वायत्तता शक्ति का परिचय देती है। इस लम्बी कविता में कारुणिक संदर्भ अधिक आए हैं। 'मनुष्य, कुर्बानी की मासूम भेड़ों में, 'और मिमियाती भेड़ों के हाहाकार में डूबते ही आरंभ होती है कविता / और प्रकाशित हो उठते हैं / काले स्याह पृष्ठ / तब स्वाधीनता, शासन, भाषण, अमन, चमन और दमन / अपने शब्दकोशी-लिहाफ की गरिमा त्यागकर / हिमपात में खड़े होने की लाचारी ओढ़ नंगे ठिठुरते हैं।' और जब रात का अंधेरा असह्य हो उठता है, तब समाज में नवप्रभात के सपने कुलबुलाते हैं। चारों ओर एक आदिम स्वर गूंजता है- 'तमसो मा ज्योतिर्गमय।'

आदि कवि की करुणा के प्रकाश से, आधुनिक मानव की जुझारू चेतना के प्रकाश तक की यात्रा और भावी का संकेत देने वाली लम्बी कविता है यह।

'भ्रमों का जंगल' कविता भी अपने नाम के अनुसार आशयों को खोलती है। राजनीति ने गत वर्षों में जो चरित्र और व्यवहार प्रकट किया है। विसंगति-विडम्बना का जोड़ी ने जो मानवीय परिस्थिति में तबाही मचाई है, उस का अहसास यहाँ बुना गया है। लोहार, कुम्हार आदि सामान्य जन को बार-बार सपना दिखाकर उन का दोहन किया है इस सम्मिलित इतिहास-पुरुष ने। 'अपमान के सरोवर में पहला गोता लगने पर, उसने अनुभव किया था / कि तैरना आना ही चाहिए हर इन्सान को.' दूसरा और धृतराष्ट्र और सिकंदर के मिथक हैं, जो सत्ता-व्यवस्था के अधत्व को वर्तमान तक ले आए हैं। मानव-समाज में जंगल आतंक, मृत्यु, साजिश वैध मान लिए गए हैं। इतिहास स्वयं को इन्हीं अर्थों में दोहराता रहता है। संस्कृतिकर्मी - कवि 'दुर्गंध के आलिंगन में बंधा / बसंती बयार के सपने देखता है। किंतु युवा कवि के जिगर में बह उठा है खौलते हुए खून का फव्वारा।' इस कविता में 'मौसम' शब्द मिथकीय-विशिष्ट मानवी जन आकांक्षाओं की पहचान ले कर उभरा है, जो संघर्ष को स्वीकार करता है। 'जंगल से लकड़ियाँ बटोर / वह जलाएगा आग' (पृ. 57) यानी जनक्रांति का भरोसा। क्या यह संभव रह गया है, आज की स्थितियों में ?

तीसरी लम्बी कविता 'ठूंठ आदमी का बयान' - भी भारत समाज की स्वातंत्र्योत्तर दुर्दशा का सच्चा चिट्ठा है, कच्चा चिट्ठा नहीं। इस कविता तक आते-आते भारतीय लोकतंत्र की सभी संस्थाओं के पतन की गवाही दे रहा है ठूंठा व्यक्ति। क्योंकि वही एक मात्र साक्षी है। उसने देख लिया कि असली चेहरा-लोकतंत्री शासक का भारत रूपी बाग के माली का चेहरा, जो वास्तव में एक बहेलिये का है :

> "बहेलिये का चेहरा
> पिघलने लगा था
> और उसमें से उभर आया था
> उसका जाना पहचाना
> माली का चेहरा।" (पृ. 62)

उस व्यक्ति ने देख लिया कि, 'चुगा चुगती कबूतरी के ऊपर अचानक / गिर पड़ा है बहेलिये का जाल और पंखों को फड़फड़ाती ' दहशतजदा कबूतरी मुक्त होने की असफल चेष्टा कर रही है / और बहेलिया दूर खड़ा मुस्करा रहा है।' पृ 61 बस साक्षीभर होने की सजा कि उसके दोनों हाथ कलम करके पेड़ के तने पर टाँग दिए। रक्षक शासक ही जब भक्षक बन जाएँ तब लोकतंत्र की अन्य संस्थाएँ विधायिका न्यायपालिका कहाँ सुरक्षित रह सकती हैं? आज तक एकत्र हुए जहरीली गैसों के प्रभाव से लाश बने लोकतंत्र की हत्या का आरोप भी उसी

आरम्भ होती है कविता

'दर असल
कविता वहीं से आरम्भ होती है
जहाँ पर चीख़
सन्नाटे में तबदील हो जाती है !'

आरम्भ होती है कविता

दर असल
कविता वहीं से आरम्भ होती है
जहाँ पर चीख
सन्नाटे में तबदील हो जाती है ।

हररोज़
रात के सन्नाटे में
चीखती हुई एक रेलगाड़ी
अँधेरों को चीरती
उस गुफ़ा में घुस जाती है
जहाँ से लौटकर आना
एक बेहूदा सा तर्क है।

चीख़ सन्नाटे को तोड़ती है
या सन्नाटा निगल जाता है
मर्मभेदी चीखों को
यह एक रहस्य है
और इसी रहस्य की खोज का नाम है कविता !

अँधेरे में
उस पुल से गुज़रते हुए
मेरा ख़ौफ़
एक अनजान शंका को जन्म देता है
और ठंड में ठिठुरता हुआ
मैं अनुभव करता हूँ
कि मेरा गला सूखने लगा है
लेकिन मुझे पता है

कि पुल के नीचे जो बह रहा है
वह पानी नहीं है
क्योंकि नीचे
लिक् लिक् करती भेड़िए की जीभ
अपनी प्यास बुझा रही है
और मेरा समूचा अस्तित्व
ऐसे थरथरा रहा है
जैसे गाड़ी के गुजरते समय
लोहे का बना मजबूत पुल।

मछलियों का हजूम
कछुओं की पीठ पर सवार
किनारे की रेत पर खड़ा
देख रहा है तमाशा
उस भालू का
जिसे वह आदमी
भाँति भाँति के नाच नचा रहा है।

इन्सान का पेट
कैसे कैसे जंगली जानवरों से
समझौता कर लेता है।

......अचानक
मैं अनुभव करता हूँ
कि वह रींछ
अपनी नकेल तुड़ाकर
भाग आया है मेरे पास
और मुझे अपनी बाहों में बाँध
झकझोर रहा है –

उसकी लारों की घिन
और उसकी साँसों की दुर्गन्ध
मेरे ज़हन में इतनी गहरे उतर गई है
जहाँ न जाने कब से
लोहार का हथौड़ा ठनठना रहा है
और दहकती भट्ठी की आग में
जल रहा है सब कुछ -
सचमुच
एक अजीब ताकत है यह आग
जिस मे जलकर
हर एक चीज
आग बन जाती है
और अपने गुणधर्म छोड़ देती है -
इसीलिए शायद
भूख को पेट की आग कहते हैं
जिसमें भूखे इन्सान की इन्सानियत,
दीन
ईमान
सब जलकर नामशेष हो जाता है।

चमचमाती तेज छुरी
जब भुकती है हवा के पेट में
तब उभरती है
सन्नाटों को चीरती हुई चीख़
और उसके डूबते ही
आरम्भ होती है कविता ।

आरम्भ होती है कविता
और रूठ जाते हैं

शब्दकोश के निठल्ले शब्द
जो आक्रोश की मुद्रा धारण कर
घूरते हैं मुझे
और अपने अर्थ
उस नदी की धारा में बहा देते हैं
जो उस अनादि-काल से वह रही है
जब भावना ने पहली बार
शब्दों को
हवा के हिण्डोले में झुलाते हुए
लोरी गाई थी
और सूनी दिशाओं में
प्रतिध्वनियाँ गूँज उठी थीं -
धारा में शब्दों के अर्थों को
विसर्जित करने के पश्चात्
प्रणामीमुद्रा धारण कर
वे निर्वीर्य शब्द
मेरे सम्मुख
वशीकृत राक्षसों से ताबेदार
खड़े हो जाते हैं 'हुकुम मालिक' की मुद्रा में
जबकि मैं अनुभव करता हूँ
कि मेरी ज़बान को लकवा मार गया है -
तब
कविता लिखने के लिए रखा मेरा काग़ज़
आँखों में उमड़ आए
बेबसी के सैलाब में
तैरता है उथलाता है
और गलकर
क्वार का आकाश बन जाता है
जिस पर

अलाव के गिर्द
तमतमाए चेहरे
जब एक दूसरे की पीठ पर
उभर आई लासों को सहलाते हैं
तब
लासों में तिर आए रक्तकणों का
घुटने लगता है दम
और जीवन की सूनी वादियो में
सनसनाते तीर सी
उभरती है एक चीख -
मौसम के उजाड़ बियाबान में
उस चीख़ के डूबते ही
आरम्भ होती है कविता ।

आरम्भ होती है कविता
और धरती के पेट में छिपी
प्यासी हैवानियत
माँगती है गरम गरम ख़ून
ज़िन्दा इन्सानों का
(कास्ट एण्ड रिलिजन - नो बार)
देखते ही देखते
सारा आकाश
बेमौसमी बादलों से छा जाता है -
कड़कती है बिजली -
बरसता है कहर
और घरों के पनालों से
बहता है गरम गरम खून
जिसे देख

जिसे दो अनाड़ी हाथ चलाते हुए
अपनी मातृभूमि के जिगर को
टेढ़ा मेढ़ा काट रहे हैं -
पेड़ों के फलने फूलने की आस्था और सपने
बुरादे का ढेर बनते जा रहे हैं।

मैं जानता हूँ
कि बुरादे का ढेर ज्वालामुखी नही होता
जिसके पास
विध्वंस का गीत गाने के लिए
विस्फोट की भाषा होती है -

टुकर टुकर देखती
मौसम की आँखों के आगे
जब जंगल के सीने पर
चलता है आरा
तब उसकी भयावह घरघराहट में
उभरती है एक चीख़
और धरती का जिगर तिड़क उठता है -

बुरादा बुरादा हुए माहौल में
उस लावारिस चीख़ के डूबते ही
आरम्भ होती है कविता ।

आरम्भ होती है कविता
और बहरे हो जाते हैं ज़माने के कान -
फटी फटी मौसम की आँखों में
सुलग उठता है अलाव
जिसके गिर्द बैठे

हाथ तापते लोगों के चित्र
बनाते हैं कलाकार
और ख़रीदते हैं धनवान
जिनके आलीशान घरों मे लटके
ये चित्र पता नही
किस सौंदर्यबोध के परिचायक हैं ?...
जबकि
उनके ही हथकंडों ने
चूस ली है गर्मी उन खेतों की
जिनमें खड़ी फ़सलें
निर्वस्त्र-नंगी ठिठुर रही हैं -
इन निरीह फ़सलों की ठिठुरन में
मै अनुभव करता हूँ
कि अलाव के अंगारे ठंडे हो गए हैं
और उन लोगों का ख़ून जम चुका है
जो आज तक
उसके गिर्द बैठे
फ़सलों की रखवाली का भ्रम पाले
आग सेंकते रहे हैं -

सोचता हूँ -
किसी के पास कलाबोध हो
तो ये ठिठुरे बुत बने लोग
खेतों की पृष्ठभूमि में
कितने सुन्दर लगते है ।

चिड़ियों की मौत पर हँसते
गँवारों का दृश्य भी
शायद

ऐसा ही सुन्दर होता होगा !
किन्तु मेरी आँखें
सौंदर्य का अनुपान करें
उससे पूर्व ही
मुल्क की सीमा के उस पार
तोपें दग़ने लगती हैं
जिनकी दहशत
मौसम के मस्तिष्क की उपत्यका में
अनजाने ख़ौफ़ के एहसास सी
गूँजने लगती है
और दिमाग़ की नसों मे बहता ख़ून
रुक रुक कर बहने लगता है -

जीवन की सुरक्षा
क्रीड़ारत किसी बालक के
कुएँ में फेंके कंकड़ सी
'दुडुम' अतल अंधकार में खो जाती है -
उल्लू के बोलने की आवाज़ सुनकर
आकाश में मंडराती चीलें
ख़ुशगवार मौसम की प्रतीक्षा करने लगती हैं -
मौसम एक करवट लेता है
और खेतों में खड़ी फ़सलें
भड़-भड़ जल उठती हैं -
गरम गरम राख से
निकलते हैं सूरमा
वर्दियों में घुटे शस्त्रों से लैस
और मुल्क की छाती पर
उभर आती हैं चींटियों की कतारें
जिनमें रेंगती ज़िन्दगी पर

मौत अट्टहास करती है
और ठंडे अलाव के गिर्द बैठे
उन ठिठुरे बुतों की बेबसी
बहरे ज़माने से
एक सवाल करती है
कि हर चन्द वर्षों के बाद
क्यों जल उठते हैं उनके खेत
और क्यों तोड़ दी जाती हैं चूड़ियाँ
उनकी बहू-बेटियों की
और लाड़-पले बेटों के शव
उन्हें क्यों ढोने पड़ते हैं
जब कि लोगों के घरों पर
बँधी हैं छतरियाँ
जिनसे सफ़ेद कबूतर उड़ते हैं
और फिर
उन्हीं छतरियों पर लौट आते हैं –
टुकर टुकर देखता बहरा ज़माना
कुछ नहीं बोलता
और सूरज के पंख कटकर
धरा पर गिर पड़ते हैं
और जिस्म से ख़ून चूने लगता है
और तब
रक्तसनी धरती की मिट्टी से
उभरती है चीख़
जिसके बारूदी धमाकों के शोर में डूबते ही
आरम्भ होती है कविता !

आरम्भ होती है कविता
और थरथर काँपने लगता है

बूढ़ा जर्जर इतिहास
सुलगती हैं बस्तियाँ
और जलते हैं घर-आंगन-बाज़ार
छितर जाता है खून
और जार जार रोने लगती है तहज़ीब -
बरसते हैं पाशविक ओले -
फूटते हैं सिर
और पल्ला डाल
सुबक सुबक कर रोती है इन्सानियत -
है हर नदी फ़ुरात
जिसके घाट पर तैनात
जाबर भेड़िए
बिसूरते मेमनों की प्यास पर
पहरा देते हैं -
घर बने सब गैल,
गैलें मार्ग
और मार्ग बनकर काफ़िलों के पॉव
ढूंढते हैं ठाँव
उस आकाश के नीचे
जहाँ से आजकल
आग, छुरियाँ और भाले बरसते हैं -

खुले आम घूमते निर्भीक कतिपय सांड
भिड़ते हैं भेड़
उजाड़ते हैं खेत -
उनके तेज़ सींगों मे टंगा काफ़िलों का भाग्य
निष्प्राण होकर झूलता है -
चारों तरफ़ लाशों के अंबार है
गर्दिल हवाएँ हैं

और थरथराता हुआ मौसम है –
हारे हुए
जुआरी पाँडवों जैसे लोग
कौरवी दरबार में
लुटती हुई अस्मतों को देखते हैं –
इस धाँधलबाजी में
शायद मर चुके हों कृष्ण
ऐसा उठ रहा है शोर
चारों ओर –
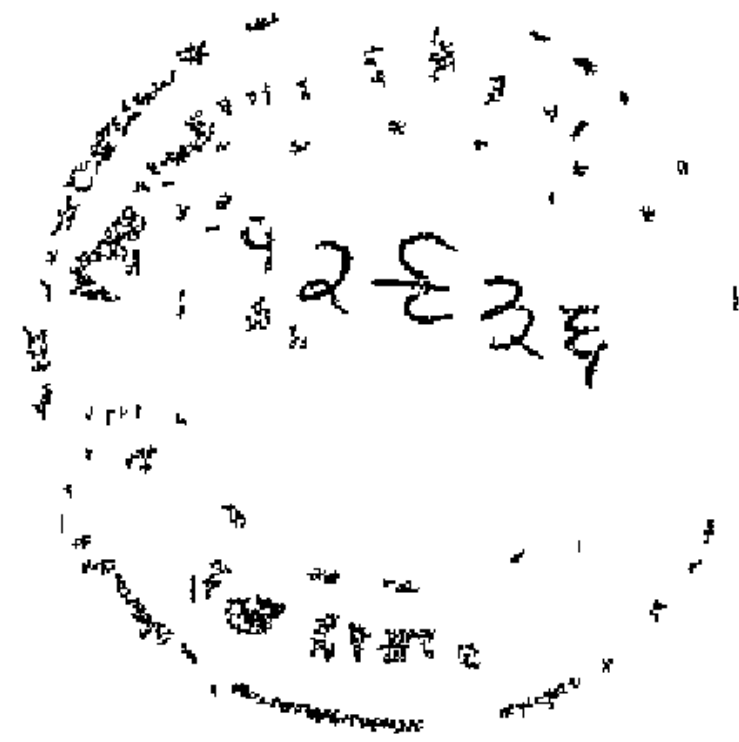
धड़ों पर रखे सिर
बन गए हैं बोझ –
भयभीत हैं सब प्राण
बिदके बिदके गुमसुम बैठे हैं लोग –
परिवेश जैसे पतझरी मौसम –
हवाएँ बाँटती हैं
मौत का पैग़ाम हर क्षण –
हर तरफ़ है आग
शोणित हर गली से बह रहा है –
नदियाँ लाल,
सागर लाल,
अम्बर लाल,
सूरज लाल जैसे भेड़िए की आँख –
हवाओं में उछलते हैं
सनसनाते तीर विष के
चौराहे बने मरघट
चूड़ियों की खनक से महरूम हैं पनघट –
देश कब्रिस्तान –
प्यास से आकुल बिलखते लोग

ढूंढते हैं कोई नखलिस्तान –
किसका कारस्तान है
जो हाथ दायाँ काट
देता बाएँ को सौगात ।

नुक्कड़ पर खडा
सब देखता है बेज़बाँ इतिहास ।

मंदिरों मे गूँजती हैं घंटियाँ –
मस्जिदों में गूँजती आज़ान –
धर्म की खाल में छिपे
धमाचौकड़ी मचाते हैं शैतान –
जले गुलशन की राख बुहारती
फ़िज़ा का टूटता है दिल
और उभरती है एक दारूण चीख़
जिसके
शैतानी नकारख़ाने में डूबते ही
आरम्भ होती है कविता !
आरम्भ होती है कविता
और चारों तरफ़
बदल जाता है समूचा परिदृश्य !

चौराहे पर उग निकलती हैं बंदूकें –
रेंहट का गीत
सरसों के पीले खेतों से
बिदाई माँगता है।
नाटक के इस करुण दृश्य पर
भारीभरकम ट्रेक्टर
तालियाँ पीटते हैं।

आक्रोशी मुद्रा में पसर गया है
और संगीनों पर सवार
निगहबान आँखें
उसे घूर रही हैं।

चौराहे के उस पार बसा शहर
जो गाँव के बरगद तले
अख़बारी सुर्ख़ियों का लिबास पहनकर आया करता था
आज संगीनों से छिदा
बासी अख़बार के
उस टुकड़े सा घिनौना लग रहा है
जिस पर व्यस्तता ने
जल्दी जल्दी चाट खाकर
भीड़ में लावारिस छोड़ दिया है ।

हिनहिनाते घोड़ों को
अपनी ओर आते देख
मौसम लड़खड़ाकर गिर पड़ा था –
उसका समूचा अस्तित्व
घोड़ों के खुरों से
लहूलुहान हो उठा था।
बेहोशी टूटने पर
बूढ़े मौसम ने देखा था
कि चौराहे पर
खूनसनी लाशों के अंबार पर
वह छिदा पड़ा है
और सिरहाने खड़े
मिलों के भोंपू
मर्सिया गा रहे हैं

जबकि
सफेद घोडे पर बैठा
वह बाँका सवार
तबड़क तबड़क धूल उड़ाता
उस अनजाने क्षितिज की ओर
सरपट भागा जा रहा है
और इधर उसका देश
धूल के ग़ुबार मे
भिक्षापात्र थामें
लडखड़ाता,
संभलता,
अपनी राह ढूंढ रहा है।

धीरे धीरे आसमान से
जब उतरता है काला अँधेरा -
सन्नाटे में ग़र्क हो जाता है सब कुछ -
दग़ उठती हैं चौराहे पर रखी तोपें -
गिरती है लाश -
टूटता है ठूठा
तब
उभरती है सन्नाटों को चीरती हुई
मौसम की मर्मभेदी चीख़
जिसके
घोड़ों की टापों के शोर में डूबते ही
आरम्भ होती है कविता
और गर्दनों पर रखे
भारी भरकम मस्तिष्क
क्रॉस पर टंगे मसीहे से
लटक जाते हैं धरती की ओर -

सिर्फ़ सब्ज़ बाग़ दिखा सकता है।

ख़ाली पेटों
और भरी झोलियों के अनुपात का गणित
ख़ूब अच्छी तरह जानते है
मसीही मुद्रा में लटके चेहरे
जो अतीत के आलोक
और भावी अँधेरों की
धूपछाहीं कशमकश में
न पीछे मुड़ पाते हैं
न आगे बढ़ पाते हैं -

उनकी स्थितिस्थापकता
व्यवस्था के हक़ में फ़ैसला सुनाकर
दबोचती है क्रान्ति का गला
जबकि जुलूस का जोश
उन लटके हुए मुंडों के अकड़ने
और हाथ में परचम उठाने की प्रतीक्षा में
गहराते ठण्डे कुहरे में ठिठुरकर
हकलाने लगा है -

किसी बड़े जश्न की तैयारी में
दगने लगी हैं तोपें
और कुछ सजे-धजे भाड़े के जाँबाज़
तलवारों और छुरियों के करतब दिखाकर
दर्शकों को आतंकित करने की
अपनी भूमिका निभा रहे हैं -
आतंकित हकलाते लोग
वोट थामें

सहक सहक कर अपना परिचय देते हैं –
तब
स्वाधीनता..
शासन .
भाषण...
अमन, चमन और दमन
अपने शब्दकोशी लिहाफ़ की गरिमा त्यागकर
हिमपात में खड़े होने की लाचारी ओढ़ नंगे ठिठुरते हैं –

पिछले हिमपात में
मेरे देश की जीभ लड़खड़ाई थी
और छिपकली की कटी पूँछ सी
वक्र होकर छटपटाई थी –

शहर की छाती पर
ऊबड़ खाबड़ घिनौनी झुग्गियाँ
जब जंगली घास सी उग आईं
और कूड़े के अंबार खड़क उठे
तब ज़मीन को साफ़-समतल करना
ज़रूरी हो गया था
इसलिए
मुल्क की सेहत के ख़्वाहिशमन्दों को
बुलडोज़रों की कुमुक बुलानी पड़ी थी।

वे गुनगुने पानी से
अपना मुँह धोकर
बार बार दर्पण निहारते रहे
और शहर की छवि सँवारते रहे
जब कि

आँतों के भीतर छिपी सड़ाध बढ़ती रही -

भूखी आग ने
अपनी तृप्ति के लिए
जब जंगल के वृक्षों को झकझोरा
तो वे डालियों समेत धराशायी हो गए -
मायूस आँखों ने देखा
कि जगल की नसों में बहनेवाले
हरियाले उत्साह को पीकर
पुष्ट बनी दीमक
वृक्षों की जड़ें खा रही है -
ज़ाहिर है
कि माली
चाहे जड़ों को सींचे चाहे पत्तों को
जंगल में हरी कोंपलों का उत्सव
अब नहीं हो सकता -

पतझरी हवाओं की साज़िश
मधुमासी इरादों की हत्या
बहुत पहले कर चुकी है -
यह बात और है
कि मौसम के हित की खा़तिर
इस ख़बर का गला घोंटकर
काली कोठरी में
दफ़न कर दिया गया है...
फ़िज़ाओं की चीखोपुकार सुनकर
कोठरी के घुटे माहौल ने
बार बार दरवाज़े पर दस्तक दी थी
किन्तु बूढ़ा संतरी

जब टूटती है आदिम पुरुष की नींद
तब ढलती रात के अँधेरे में
फूटता है आग का गोला -
चारों ओर गूँजता है एक आदिम स्वर
'तमसो मा ज्योतिर्गमय'
और नए सिरे से फिर एक बार
आरम्भ होती है कविता !

भ्रमों का जंगल

'अपमान के सरोवर में
पहला ग़ोता लगने पर
उसने अनुभव किया था
कि तैरना आना ही चाहिए हर इन्सान को...'

भ्रमों का जंगल

मन्द मन्द मुस्काता रहा चाँद
और बौखलाई लहरों का जनून
चट्टानों से टकराता रहा ।

मेरे सपनो में
जब जब कौंध उठता है
मन्द मन्द मुस्काता वह चेहरा
तब तब मेरी नींदों पर
साज़िशों का एक तिलस्मी जाल फैल जाता है
और सपनों के जंगल में
वहशी आवाज़ों का एक शोर
मेरी चेतना को
आतंक के दुशाले में लपेट
हिमनदी को समर्पित कर देता है -

शिखर पर बैठी हिमकन्या को पता है
कि तलहटी से शिखर की ओर आनेवाला
वह झुका झुका सा आदमी
अपनी मुट्ठियों में बर्फ़ दबाए आ रहा है
जब कि हवा
सूरज को काँख में दबाए
उड़ी चली जा रही है उस ओर
जहाँ उद्यान के गलियारों में
बारहों मास
मधुमासी जश्न की धूम में
रोशनी के कुमकुमे जगमगाते हैं।

मौसम जानता है
कि पूरी चढ़ाई चढ़ने के पूर्व ही
उस आदमी की मुट्ठियों में भिंची बर्फ़
उसके भीतर जलते अलाव को ठंडा कर देगी
और उसकी चेतना की फ़सल को
पाला मार जाएगा-
मौसम यह भी जानता है
कि नीचे ख़ंदक में लुढ़क जाएगी
उस आदमी की सर्द नीली लाश
और शिखर पर बैठी
उस हिमकन्या की प्रतीक्षा के फ़ासले
और अधिक बढ़ जाएँगे -
पहाड़ी मौन का कलेजा
फटा जा रहा है
और अतिशय शीत के कारण
मानसरोवर के हंसों ने
चुगना छोड़ दिया है ।

कठिन चढ़ाई पर काँपते
उस आदमी की जद्दोजहद को
उझक उझककर देखते
राजहंसों को तरस आ रहा है
कि वह आदमी
सूरज न सही
कम-अज़-कम
दियासलाई तो ले आता अपने साथ ।

पता नहीं
किसने उसे बहका दिया था

कि पाले को मारता है पाला
और वह मुट्ठियों में बर्फ़ दबाए
निकल पड़ा था घर से
उस ऊँचे पहाड़ की जानिब ।

जब जब मौसम ने
आवाज़ दी है उस सूरज को
तब तब अँधेरो से निकल
किसी ग़ैबी हाथ ने
उसके मुँह पर
एक चाँटा मारा है..

अपमान के सरोवर में
पहला ग़ोता लगने पर
उसने अनुभव किया था
कि तैरना आना ही चाहिए हर इन्सान को...
क्योंकि तिनकों को चुनकर लोगों ने
उपवन में बना लिए हैं नर्म-गुदगुदे घोंसले...
इसलिए ज़ाहिर है
कि डूबनेवालों को अब
अपनी बाहों के भरोसे ही
उस किनारे पहुँचना होगा ।

किनारे खड़े आक्रोश ने
जब जब उस झील के नीले विस्तार पर
पत्थर फेंका है
तब तब उसका अपना ही चेहरा चटख़ा है -
इससे पूर्व
कि वह भर सके

अपने चेहरे की दरारें
पत्थर से बँधा उसका अस्तित्व
झील के क़दमों को चूमता नज़र आता है –

पेट में सुलगती आग
जब हो जाती है रोटियों की मोहताज
तब शेर की दहाड़
कुत्ते की पूँछ में दुबककर
पेट से सटी
खीसें निपोरने लगती है
तब हिमालय के
सबसे ऊँचे शिखर पर बैठा शंकर
इतना ठिठुर जाता है
कि उसके तीसरे लोचन में आसन्न
समाधिस्थ सूरज के दाँत
खड़खड़ बजने लगते हैं।
धुंध जब इस क़दर हावी हो माहौल पर
कि सूरज खो दे अपनी सही पहचान
तब बोतल में जुगनुओं को भरकर
मौसम अगर अपने घोंसले को गर्माना चाहे
तो उसकी इस इच्छा को
भला कौनसा नाम दिया जा सकता है।

ठिठुरा मौसम
जिस चट्टान पर गुच्छू-मुच्छू बैठा
धूप सेंकता
अपनी बौनी परछाई से बतिया रहा है
उसका पुख़्तापन
आखिर कितने विस्फोट सह सकेगा !

काश । वह अपनी परछाई से बतियाने के बजाय
उस सुनसान खण्डहर की
झुलसी ईटों पर खुदी
समय की इबारत में
सामूहिक गर्काव का इतिहास पढ़कर
अपना गन्तव्य निर्धारित कर सकता -

चाहने और होने के फ़र्क से बेखबर
लोगों ने
चुननी शुरू की थी
स्वर्ग तक पहुँचने के लिए,
बेबीलोन की मीनार
और कौन नहीं जानता
कि जब जब इस तरह
स्वर्ग की जानिब
बढ़े हैं मनुष्य के हाथ
तब तब अनन्त विवाद के बीच
अधर में लटकता रह गया है
अभिशप्त त्रिशंकु ।
यह सब जानते हुए भी
भट्ठी की लाल सुर्ख आग में
तमतमाया लोहार का चेहरा
अपने बाएँ हाथ को अहरन पर रख
दाएँ में भारी हथौड़ा थामें
औजार बनाने का उपक्रम करता है -

फटे कम्बल में लिपटा बैठा कुम्हार
करता रह जाता है प्रतीक्षा
एक जोड़ी हाथों की

और घूमते चाक पर रखे
मिट्टी के लौंदे की अशरीरी आकृतियाँ
उसके वजूद पर
खिलखिल हँसती हैं..
तब कुम्हार के सामने
एक सत्य उजागर होता है
और उसे ख़याल आता है
कि जिस चाक पर
नए नए आकार रचने का भ्रम पाले
मिट्टी - सने पानी से
वह बुझाता रहा है
            अपनी उंगलियों की प्यास
वही उसके अस्तित्व के तंतुओं को
चूहे सा फूँक फूँक
            काटता रहा है आज तक
और उसके चारों तरफ़
ठीकरियों का एक अंबार खड़क उठा है -

क़ब्रिस्तान का ख़याल आते ही
उसे उस मौन का ख़याल आता है
जिसकी जकड़ ने
उसकी हड्डियों को
इतना चूर चूर कर दिया है
कि शरीर की बनावट में
रीढ़ की हड्डी ग़ायब हो चुकी है..
और आँखें आकाश के छज्जे से कूद
जमीन पर पड़ी धूल चाट रही हैं !

सिकन्दर की आँखें

कान पता नही
किस दुकान से उधार मिलते हैं !

उधार की खाल पहनकर गधा
आख़िर कितने दिन
रचा सकेगा शेर का स्वाँग.
भाड़े के जाँबाज़
कब तक खेलते रहेंगे जंग .

कितनी दूर तक बह सकेगी
धारा में
बिना पैंदे की नाव...
और
बिना डोर आख़िर कब तक
उड़ पाएगी पतंग ।

धरती की अंधेरी पर्तों में सरकता
यात्रा का सुख लूटता केंचुआ
कैसे अनुभव कर सकता है
गौरैया के पंखों में फुदकते
प्राणों का स्वाद ।

गरजते बादलों के आतक को
किस चट्टान पर जा पटकेंगी हवाएँ
इसकी अग्रिम सूचना
'आकाशवाणी' के
किस केन्द्र से
प्रसारित होती है भला !
मंच पर खड़ा वह आदमी वर्षों से

जिन शब्दा का जुगाल रहा है
उनकी खनक
खोटे सिक्कों की मानिन्द
यद्यपि खो चुकी है अपना संगीत
फिर भी
मंदिर में चढावे के साथ
उन्हें भी चढ़ाए चले जा रहे है लोग -

धोखे की दीवार में
जब जिन्दा चुना जा चुका है
इस युग का भगवान
तब आस्था का कौन सा तंतु
इन्सान को इन्सान से बाँध पाएगा !!

नादान, इन्सान, ईमान, हिन्दुस्तान और भगवान
शब्दों का
यदि एक वाक्य में प्रयोग करना हो
तो कुछ इस प्रकार कहा जा सकता है
कि नादान इन्सान का ईमान
भूखे हिन्दुस्तान का भगवान है...!
और अगर कोई
इतने काफ़िए लेकर
मुसलसल ग़ज़ल लिखना चाहे
तो हाशिए में खड़े
निहत्थे शब्दों को भला
क्या एतराज़ हो सकता है ।
गली गली पिट रही है मुनादी
कि लुंजे शब्दों को
इस युग का कवि

आज करेगा नीलाम -
आज वह सरेआम
काट देना चाहता है अपनी जबान
क्योंकि जिन शब्दो को
वह आज तक
अभिव्यक्ति के पहरुए मानता था
उनके कच्चे रंग घुलघुलकर
उसके चेहरे पर
कुछ ऐसे पुत गए हैं
कि दर्पण की हक़ीक़त
खौफ़नाक सपने सी लगने लगी है

जंगल के जादू से
कुछ ऐसा सम्मोहित हो गया था कवि
कि वह रींछ की दुर्गन्ध के आलिंगन में बंधा
बसंती बयार के सपने देखता
चिपचिपी लारों में नहाता रहा -
जंगल के तेज़ नाख़ून
चुपचाप नोचते रहे उसका चेहरा
और वह
शब्दों की खोखली कच्ची ईंटों से
चुनता रहा
हृदयेश्वरी का देहरा -

चेहरे की खरोंचों में उभरे
अपमान की आँखों में
उसे दिखाई दे रहे हैं
जंगल के वे ख़ूँख़ार इरादे
जिनके मुँह पर

ज़माने भर का ख़ून पुता हुआ है ।

वह देख रहा है
कि जिस मज़बूत चट्टान पर बैठा
वह एक अर्से से
कोमल फूलों की माला गूँथ रहा है
उसके पीछे
अस्थियों का अंबार लग गया है
और उस पर बैठे चील और कौए
मचीय कवियों से
गला फाड़ फाड़कर गा रहे हैं
जिन्हें देखकर
अँधेरी खोहों से निकलकर
लकड़बग्घे
ठहाके मार मारकर
हँसे जा रहे हैं -
भुतही हास में गूँजती
कविता की भयावह नियति देख
युवा कवि के जिगर से बह उठा है
खौलते हुए ख़ून का फव्वारा -
उसने
तोड़ दी है पुरानी क़लम
और झटक दिया है
घिसे-पिटे शब्दों का तिलस्म -
वह घूर घूर कर
वहशत की आँखों में
ढूंढ रहा है
अपना वह चेहरा
जिसमें

ज्वालामुखी के मुँह पर रखे अंगारे
दहक रहे हैं लाल लाल ।
जिस हाथ में थामा करता था क़लम
उसमे आज
वह थामना चाहता है आग –
वह शब्दो को लिखना नहीं
महसूसना चाहता है...
वह कविता को गाना नहीं
जीना चाहता है ..
आज वह छाँग देना चाहता है
समूचे जंगल को इतना
कि सूरज की किरणें
धरती पर बिखरे पड़े रास्तों पर अंकित
उन पदचिह्नों में लिखे
इतिहास के सही संदर्भों को
स्पष्ट कर सकें..
वह नहीं चाहता
कि जंगल
फिर से इतना आच्छादित हो जाए
कि धरती
सूरज की पहचान ही खो दे
और
दिन में
रात के होने का भ्रम पाल ले ।

कृतसंकल्प कवि
कलम से आज
अवश्य लेगा कुल्हाड़े का काम
और छाँग कर रख देगा

टुंडे आदमी का बयान

'हुजूर...
मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ
जिसके हर चेहरे पर
दहशत, अपमान, आक्रोश
और लाचारी की रेखाएँ
एक सी, खुदी हैं
और आँखें
ठण्डे चूल्हे सी बुझी हैं...'

टुडे आदमी का बयान

उसे विश्वास था
कि माली उसकी परवरिश
नेक नीयत से कर रहा है
इसलिए वह खुश था
अपनी नियति पर...
बाग और बागबाँ पर
तथा उन फ़िजाओं पर
जिनमें साँस लेते समय
उसके फेफड़े
मुक्त आकाश में
उन्मुक्त उड़ते परवेरू से फुदकते थे..
तब उसे लगा था
कि बाग़ के कीट-पतंग
और चिक्-चिक् करते पक्षी
नाहक ही लगाते हैं नारे सुबहोशाम
और निकालते हैं मीन-मेख़
माली के हर काम में
लेकिन
गिनती की कुछ साँसें लेने के बाद
उसने देखा
कि चुग्गा चुगती कबूतरी के ऊपर
अचानक
गिर पड़ा है बहेलिये का जाल
और पंखों को फड़फड़ाती
दहशतज़दा कबूतरी
मुक्त होने की असफल चेष्टा कर रही है
और बहेलिया

दूर खड़ा मुस्करा रहा हे -
तब
उसकी हरी नसों में दौड़ते जनून को
साँसों का गला दबोचते
उस बहेलिये पर आया था क्रोध
पर अचानक उसकी
आँखों के सामने
धीरे धीरे
बहेलिये का चेहरा
पिघलने लगा था
और उसमे से उभर आया था
उसका जाना पहचाना
माली का चेहरा -
उसके शरीर के प्रत्येक कोश में
हज़ारों चिनगारियाँ
एक साथ तड़तड़ा उठी थीं
और उसका चेहरा
तंदूर सा तमतमा उठा था -

इसके पूर्व कि वह
अपनी रीढ़ की हड्डी का सहारा लेकर खड़ा होता
उसने देखा
कि माली ने तेज औज़ार से
उसके दोनों हाथ क़लम करके
पेड़ के तने पर टाँग दिए थे...
तब उसे लगा था
कि अपने ही वतन में
वह निर्वासन का दंड भोग रहा है ।
वह देखता रह गया था एक क्षण

दहशत भरी आंखों से
पेड़ पर टंगे अपने स्वतंत्र हाथों को
जो अब
किसी और के उपयोग की चीज़ बन गए थे -
तब एकबारगी ही उसे एहसास हुआ था
कि वह जिसे स्वतंत्रता मानता रहा है
दरअसल वह एक सुविधा है
जो उससे छीनी भी जा सकती है
या जिसे वह गिरवी भी रख सकता है
अपनी किसी जरूरत
सुविधा
या सुरक्षा की ख़ातिर !

अचानक उसे
मन की स्वतंत्रता का ख़याल आया था
और तभी
ड्रॉइंगरूम में रखे
ग्लास-टेंक में
सिर फोड़ती सुनहली मछलियाँ
उसके जेहन में कौंध गई थीं
जो समुद्र के सपने संजोए
प्रदर्शन और मनोरंजन का साधन बन
तैर रही थीं / उनके लिए
जिन्होंने देश को
आर्थिक बुलन्दी बख़्शी है -

वातानुकूलित कमरों में
अपने नर्म गुदगुदे सोफ़े पर बैठे
साहित्य, संस्कृति और कला पर बतियाते

उन लोगो की साँसो मे
उसे सड़े मांस की दुर्गन्ध आई थी -
उसकी आँखों में
तब झूल उठी थी
फुलकन्नी सी वह लाश
जिसे गटर का ढक्कन खुलते ही
शहर की जहरीली गैसों ने
जमीन पर पटक मार डाला था ।
उसे लगा
जैसे वह लाश
जिन्दा होकर
महानगर के रोशनी के कुमकुमों पर
भागती चली जा रही है
और नीचे
दुर्घटना से बेख़बर
शहर की आँखें
रात के अँधेरे में
गलियों और कूचों में
ढूंढ रही थीं जिन्दा मांस
जिसे खाकर
वे दिन की थकान मिटा सकें -

ज़िन्दा लोथों को
जीने की हसरत में मुस्कराने
और आँखें बिछाने की मजबूरी ओढ़ते देख
कुमकुमों पर दौड़ती उस लाश को
ग़श आ गई थी
और वह उस झोंपड़े पर जा गिरी थी
जिसमें

और देश-विदेश के मशहूर तस्कर
चाँदी की नौकाओं को
सोने के चप्पुओं से खेते
नौका-विहार का सुख लूटते
हीरों और जवाहरों की गोटियों से
ज़िन्दगी की बाज़ी खेल रहे थे -
न कोई बोलता था
न कोई चालता था
बस एक अजीब सा सन्नाटा था ।

तब
उसका दम
एकबारगी ही घुटने लगा था
और उसने चाहा था
कि वह ज़ोर ज़ोर से चीख़े
किन्तु उसके निर्णय करने के पूर्व ही
पुलिस की सीटी बज उठी थी
और सारा परिदृश्य बदल गया था -

वह मायानगरी
किसी पहुँचे हुए महंत के आश्रम में
तबदील हो गई थी
और दुनियाभर के मुखौटाधारी तस्कर
रेशमी वस्त्रों में सज्ज
मंजीरों और करतालों की खनक पर
नाचते गाते
झूमते फुदकते
मुँह बिचकाते
बुलन्द आवाज़ में चिल्ला रहे थे

हरे रामा हरे रामा
रामा रामा हरे हरे-
हरे कृष्णा हरे कृष्णा
कृष्णा कृष्णा हरे हरे .'

और
उनके मुंडे सिरों की चोटियाँ
प्रथम बार आँखें खुलने पर आह्लादित
पिल्लों की पूँछों सी
दाहिने-बाएँ ऊपर नीचे
मस्ती में झूम रही थीं -

पुलिसवालों ने दाख़िल होते ही
हवा में फ़ायर किए थे जरूर
लेकिन उनसे
न कोई मरा था
न घायल हुआ था
बल्कि गोलियाँ
उस भूमितल मायानगर की
दीवारों और छतों में
जहाँ जहाँ लगीं
वहाँ वहाँ
विश्व के अलग अलग धर्मों की
मुकद्दस इबारतें खुद गईं -

उसने देखा कि तब
पुलिसवालों ने हथियार डाल दिए थे
और ऊँचे आसन पर बैठे
महंत के चरण स्पर्श कर
प्रसाद ग्रहण किया था
और उल्टे पाँव लौट पड़े थे

पुलिस के सिपाही और अधिकारी.

अपनी ओर उन्हें आते देख
वह हड़बड़ाया था
और आदत के अनुसार
दौड़ पड़ा था बदहवास
और किसी बड़े से पत्थर से टकराकर
खंदक के बाहर पड़ी
उस लाश पर गिर
बेहोश हो गया था -
तब तक शंकर धोबी
अपने बैल पर
शराब के कनस्तर लाद
रोज़ की 'सप्लाई' के लिए निकल पड़ा था-
उसे
उस लाश पर गिरा पड़ा देख
वह बड़बड़ाया था -
'स्साला... पियक्कड़... लौंडेबाज़...'
और फिर अपनी मस्ती में
'स्साला मैं तो सा'ब बन गिया...
सा'ब बनके कैसा तन गिया...'
गाता
आगे बढ़ गया था।
जब उसे होश आया
तब उसने पाया
कि वह
न्यायालय के कटघरे में खड़ा है
और सामने के कटघरे में
खड़ी है वह लाश

जिसने महानगर की सड़क पर
जगमगाते कुमकुमों से छलाँग लगाई थी ।
सरकारी वकील
उंगली के संकेत से
न्यायाधीश को बता रहा था
कि वही है क़ातिल उस लाश का
जिसकी खोज में पुलिस
बरसों से परेशान है -
न्यायाधीश के पूछने पर
कि क्या वह कटघरे में खड़ी
उस लाश को पहचानता है...?
वह हत्प्रभ सा
देखता रह गया था
कटघरे में खड़ी उस लाश को
जिसे वह अपने कंधों पर
सलीबनुमा तौक की तरह
बरसों से ढोता आ रहा है...

तनतने की उस हालत में
वह कोर्टरूम
उसकी आँखों के सामने
चर्खी की तरह घूमकर
कब्रिस्तान में तबदील हो गया था
और कब्रों के मुँह
अपने आप खुल गए थे ·
और उनमें दफ़न वे सभी सत्य
असमय ही जिनका गला घोंट दिया गया था
सुगबुगाते उठ खड़े हुए थे :
और चीख़ चीख़कर

उससे कहने लगे थे
'तुम हमारे मुक्तिदाता हो
तराजू थामें
उस न्याय के तस्कर से हमें बचाओ
जो बरसों से
उस अंधे गिद्ध के इशारों पर
खुले हाथों
बाँटे जा रहा है मौत के फर्मान-
उसने चारों तरफ
फैला दी है इतनी गन्दगी
कि हरी-भरी चरागाहों से
गायों को खदेड़
अब उसे
जंगली सुअर पालने की ज़रूरत बन आई है -
उसका सूफ़ियानी चेहरा
धर्म का उपयोग
उस अंधे गिद्ध की सुविधा की ख़ातिर किया करता है।'
कब्रिस्तान के एक कोने में
हिमपात से आतंकित
निर्वसन ठिठुरते धार्मिक पोथे
सुबक सुबककर उसे बता रहे थे
कि वे सभी निर्दोष हैं
उन पर जब जब हाथ रखकर
कसमें खाई गई हैं
तब-तब झूठ शक्तिशाली हुआ है -
'... हमारी पवित्रता को
कटघरों के निकट खड़ा करके
मुजरिमों का हमजोली बना दिया है-'
'... हो सके तो भैया

हमें भी इस नरक से निकालो –'
'. हम बेकसूर बड़े परेशान हैं
कानून के शिकंजे में
बड़े पशेमान हैं।'

अपने आगे
दुनियाभर के धर्मो को घिघियाते देख
उसकी आँखों में
गरम गरम आँसुओं का सैलाब
उमड़ आया था
जिसमें
उसके मुल्क का नक़्शा
गल गलकर फटने लगा था
और उसकी दरारों में से
लाशों का जुलूस
बुझी मशालें थामें
गुमसुम
सन्नाटे में सन्नाटा रेलता
उसे चारों तरफ़ से घेर
बेआवाज़ नारे लगा रहा था–
तब उसने
उन्हें पहचानने की बहुत कोशिश की थी
किन्तु सभी चेहरों पर
मुर्दनी का एक सा लेप होने के कारण
वे चेहरे
उसकी पहचान से बाहर थे ।

डेस्क पर बजती न्यायाधीश की हथौड़ी
और

'ऑर्डर, ऑर्डर' की कर्कश ध्वनि से
उसकी तंद्रा जब टूटी
तब उसने देखा
कि जज अपने पुराने फ़िकरे को
फिर उगल रहा था :
क्या वह कटघरे में खड़ी
उस लाश*को पहचानता है ?

तब हकलाते हकलाते
गले में उग आए काँटों से छिली आवाज़ में
गिड़गिड़ाते हुए
उसने ऊँचे आसन पर बैठे
उस न्यायाधीश को बताया था :
''हुज़ूर !
मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ
जिसके हर चेहरे पर
दहशत - अपमान - आक्रोश
और लाचारी की रेखाएँ
एक सी खुदी हैं
और आँखें
ठंडे चूल्हे सी बुझी हैं-
जहाँ हर इन्सान
एक लाश जितनी औक़ात रखता है
और एक दूसरे की पहचान
इतनी खो चुका है
कि शिनाख़्त करने का दस्तूर
महज़ एक औपचारिकता रह गई है।...
मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ, हुज़ूर
जहाँ आजकल

अनुभवी माता
अपने नवजात शिशु की जबान काटकर
मुंडेर पर बैठे कौओं को
बलि चढ़ाती है
और अपने कुलदेवता को रिझाती है-

मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ, हुजूर
जहाँ आजकल हर माँ
अपने बच्चों को
सुनाती है शौर्य गाथाएँ
'आयाराम गयाराम' की
जो इस मुल्क में
प्रजातांत्रिक शक्तियों को
मज़बूत करने की ग़रज़ से
लाखों का नुक़सान उठा
सिर पर कफ़न बाँध
प्रबल विरोधों और
'शेम, शेम' के नारों से जूझते
बदलते रहते हैं दल
ठीक वैसे
जैसे बहारों का हितैषी गिरगिट
बदलता है तरह तरह के रंग ।

मैं उस देशका बाशिन्दा हूँ, हुजूर
जहाँ के लोग
अपनी फ़ाकामस्ती में
भूल बैठे हैं
अपने होने का एहसास ।...

मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ, हुजूर
जहा के लोग
ख़ुशी ख़ुशी ओढ़ लेते हैं
ग़लत-फ़हमियों का लिहाफ़
जिसमें होता है
विषैले सर्पों का निवास
और भोगते रहते हैं जीवनभर
भयानक दंशों का अभिशाप ।...

मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ, हुजूर
जहाँ मज़हब के नाम पर
होते हैं दंगल
और स्यासत के नाम पर लोग
खींचते हैं एक दूसरे की लंगोटी
काटते हैं चोटी
जबकि
रोटी के लिए क़तार
कश्मीर से कन्याकुमारी तक पहुँच चुकी है।...

'मैं उस देश का बाशिन्दा हूँ, हुजूर
जहाँ के अक़्लमन्द इन्सान
टेढ़ा मुँह करके
बड़े गर्व से बोलते हैं
उन लोगों की ज़बान
जिन्होंने उनके बापदादाओं के
उज्ज्वल चेहरों पर
गरम गरम सलाखों से
दागे थे ग़ुलामी के निशान ।

दबे पाँव लकड़ी की सीढ़ियाँ चढ़
जज के करीब पहुँचा था-
जज के सामने रखी फाइल में
अपनी मौत का फ़रमान पढ़कर
उसके मस्तिष्क में
महावत का अंकुश चुभने की सी
वेदना हुई थी

तब उसने
वहाँ से भागने का
अपना कर्तव्य पहचाना था-

कानून के पोथों पर थूक
फ़रार होने के लिए
जब वह
कोर्टरूप से बाहर निकलने लगा
तो कटघरे में खड़ी लाश ने
उसका हाथ थाम रोका था
और सुबकते-सुबकते कहा था-
'बधु !
उनकी नजरों में
तुम्हारे गुनाहों का जीता जागता सबूत मैं हूँ !
मुझे छोड़कर भागने की कोशिश करोगे
तो क़ल
इसी कोर्टरूप में मेरी जगह तुम
और तुम्हारी जगह कोई और होगा..
वह गलती मत करना, बंधु
जो कुछ दिन पहले
मैंने की थी।

इस अधड का बाँधनेवाले
तुम्हार हाथ नहीं उग निकलते
तब तक
न तुम अभिशाप से मुक्त हो सकते हो, न मैं।
इसलिए ठहरो
मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूँ !

हम मिलकर ढूंढेंगे
इस मुल्क की हर खंदक में
इस मुल्क के कवि की वह ज़बान
जिसे तुम्हारे हाथों के साथ
उस दिन
जिबह कर दिया गया था।

ज़िन्दगी और मौत की सही पहचान
जो हम भूल चुके हैं अपने देश में
सिर्फ़ इस मुल्क का कवि करा सकता है
बशर्ते कि वह गाए !''

उस दिन से
वह टुंडा आदमी
और वह बेजबान बोलती लाश
दोनों मिलकर
गूँगे कवि के लिए
ढूँढ रहे हैं
एक अदद ज़बान ।

●